ज्ञान तत्व अंक 155
(क) लेख, महिला उत्पीड़न, कितनी समस्या कितना प्रचार।
(ख) प्रोफेसर बी0बी0 कुमार जी का टिप्पणी नक्सलवाद पर और मेरी समीक्षा ।

(क) महिला उत्पीड़न , कितनी समस्या कितना प्रचार

स्त्री पुरूष प्रकृति की दो भिन्न–भिन्न इकाईयॉ हैं जिनके गुण और प्रभाव भिन्न–भिन्न होते हैं।

1. स्त्री और पुरूष की तुलना आग और बारूद से भी की जा सकती है तथा जलती हुई माचिस और पेट्रोल से भी।
2. दोनों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण होता है। इस कार्यालय की मात्रा भी प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग होती है।
3. इन दोनों के मिलन से ही विध्वंस भी होता है और सृजन भी। अब तक होने वाले गम्भीर विवादों में इन दोनों के असामाजिक आकर्षण की भूमिका भी काफी बतायी जाती है और निर्माण तो इन दोनों के मिलन के बिना होता ही नहीं।

हजारों वर्षो से इस जटिल समस्या के समाधान के मार्ग तलाशें जाते रहे हैं। समाज नियंत्रित मिलन सर्वश्रेष्ठ मार्ग माना गया और परिवार व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के साथ – साथ राज्य व्यवस्था ने भी स्वीकार किया । फिर भी इस समस्या पर समाज में शोध चलते रहे। माना गया कि पति–पत्नि को छोड़कर अन्य स़्त्री–पुरूषों के बीच दूरी जितनी अधिक होगी, खतरा उतना ही कम होगा। बचपन से ही व्यक्ति में ऐसे संस्कार डाल गये। मां, बहन तक के साथ एकान्त मिलन से बचने की सलाह दी गई। ब्रह्मचर्य की खूब बढ़ा–चढ़ाकर प्रशंसा की गई। आबादी कम होने लगी। आकर्षण घटा। तब आकर्षण बढ़ाने के प्रयत्न भी हुए। खजुराहों बना। पंच मकार को प्रोत्साहन मिला। वाममार्ग फैला। महिलाओं को अन्य पुरूष की लिंग पूजा तक की छूठ दी गई। सब प्रकार के बधन तोड़े गये। समाज में अव्यवस्था बढ़ने लगी। आज तक यह तय नहीं हो पाया कि स्त्री पुरूष के आकर्षण को संतुलित करने का सही आधार क्या हो? ऐसा निष्कर्ष निकालने में समाजशास्त्री विद्धानों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ऐसे मामलों में राजा की भी भूमिकाऍ बहुत रही है और कभी–कभी ऐसे मामलों को इन्द्रिय लोलुप लोग भी प्रभावित करते रहे हैं।

जब भारत अंग्रेज व्यवस्था का गुलाम हुआ तो अंग्रेजों ने परिवार व्यवस्था को राज्य मान्यता देने से इन्कार कर दिया, क्योंकि पश्चिमी जगत में व्यक्ति और राज्य

की द्विस्तरीय व्यवस्था ही मान्य रही है, फिर भी परिवार व्यवस्था के सामाजिक स्वरूप के साथ उन्होंने छेड़छाड नहीं की। किन्तु जब स्वतंत्रता के बाद भारतीय शासन व्यवस्था में नेहरू–अम्बेडकर के रूप में काले अंग्रेज आये तो ये भूखें शेर के समान परिवार व्यवस्था और गॉव व्यवस्था पर टूट पड़े। मैंने तो सुना है कि ऐसे लोगों को महिलाओं की परिवार व्यवस्था से हटकर पृथक ईकाई स्थापित कराने की इतनी जल्दी थी कि इनको कई बार रात को नींद तक नहीं आती थी। इनकी टीम सफल हुई। परिवार व्यवस्था कमजोर होने लगी। व्यक्ति एक स्वतंत्र ईकाई के रूप में स्थापित होने लगा जो आज तक जारी है।

इस समस्या के समाधान में अब समाजशास्त्रीय विचार मंथन तो लगभग बन्द ही है। चिन्तन और निष्कर्ष की सारी बागडोर या तो राजनीतिज्ञों के हाथ में है या लम्पटों के हाथ में। दोनों ही इस समस्या के साथ नये–नये प्रयोग कर रहे हैं''। स्त्री और पुरूष के बीच दूरी बढ़नी चाहिए, क्योंकि इससे कामुक वातावरण में वृद्धि होती है। इस प्रयोग के लिए तर्क प्रस्तुत होते हैं, जबकि सभी जानते हैं कि ऐसे स्थानों पर वही जाते हैं जिन्हें एक दूसरे के प्रति आकर्षण की इच्छा होती है। इसके बिल्कुल विपरीत तर्क है कि सरकारी दफ्तरों ,संसद, शिक्षा संस्थानों या अन्य सार्वनिक स्थानों पर प्रयत्न पूर्वक इस दूरी को कम करना आवश्यक है, क्योंकि जब तक यह दूरी कम नहीं होगी तब तक महिलाओं को बराबरी के अधिकार कैसे मिलेंगे और जब तक यह गैर बराबरी खत्म नहीं होती तब तक भारत दुनिया की नजर में पिछड़ा हुआ है। इस बराबरी के प्रयत्न में यदि कोई विस्फोट होता है तो उसे कानून से रोका जाएगा, किन्तु दूरी कम करने के प्रयत्नों में ढील नहीं आ सकती'' ऐसा सोचने और करने वालों की भी कमी नहीं। महिला आरक्षण जैसे कदम को भी बहुत ही क्रांतिकारी कदम माना जा रहा है। और जब छेड़छाड़ की घटनाऍ बढ़ रही हैं तब पुरूषों को अत्याचारी घोषित करके खानापूर्ति की जा रही है। इच्छुक तथा सहमत आकर्षण वालों को एक साथ बिठाने के प्रयत्नों से लाभ अधिक है कि हानि यह विचार करने का विषय है। विशेषकर तब जब एक तरफ तो हमारे कानून सहमत आकर्षण को रोक पाने में भी विफल है और अनिच्छुक आकर्षण वाले जितनी उन्नति कर रहे हैं उससे कई गुना समस्या पैदा कर रहे हैं। चाहे नक्सलवाद और हिंसा रूके या न रूके, चाहे भ्रष्टाचार बढ़ता ही क्यों न चला जाए, किन्तु ऐसी महिलाओं की सुरक्षा को प्राथमिकता तो देनी ही होगी। इसके लिए अलग कानून भी बनेंगे और अलग पुलिस भी होगी और जरूरत पड़ी तो अलग कोर्ट भी हो सकता है। ऐसे से सिर पैर के तर्क देने वालों की बाढ़ आई हुई है।

मैंने इस विषय पर बहुत गम्भीर मंथन किया कि आखिर भारत का सम्पूर्ण राजनीतिक खेमा ऐसा क्यों कर रहा है। पता चला कि इसके पीछे एक पूरा – पूरा षडयंत्र है कि पुरूष और स्त्री को दो वर्गो में खड़ा करके उनमें वर्ग विद्वेष वर्ग संघर्ष को बढ़ाया जावे। इसके लिए आवश्यक है कि महिलाओं को पुरूषों के विरूद्ध

प्रेरित किया जावे। बार बाला पर प्रतिबन्ध भी पुरूष अत्याचार ही माना जाता है जबकि वह पूरी तरह महिलाओं पर शासकीय अत्याचार है, किन्तु एक पक्षीय प्रचार वर्षो से जारी है और समाज गुमराह हो रहा है।

कानून की क्षमता सीमित होती है। कानून तो सिर्फ दो प्रतिशत तक ही नियंत्रण की क्षमता रखता है वह भी तब जब उसके पास और तरह के कानूनों की भीड़ न हो। कानूनों के भरोसे उन पर वजन तो बढ़ाया जा सकता है, किन्तु महिलाओं को उनके चरित्र की सुरक्षा की गारण्टी नहीं दी जा सकती। यदि महिला और पुरूष के बीच कम होती जा रही दूरी को बढ़ाने के लिए कानून पर कानून बनते रहे तब भी समाज को कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि वर्तमान विश्व वातावरण में यह दूरी कम होती ही जाएगी, बढाई नहीं जा सकती और कानून से तो बिल्कुल भी संभव नहीं है। दूसरी ओर महिलाओं को पुरूषों के समकक्ष प्रगति के लिए दोनों के बीच की दूरी कम करने तक का खतरा उठाया जाता है तो उससे विस्फोट के खतरे भी बढ़ेंगे ही। कानून इन्हें रोक नहीं सकता। इसलिए इस विषय पर गंभीर विचार मंथन की जरूरत है। यह एक सामाजिक विषय है जिस पर समाज शास्त्रीय विचार मंथन की जरूरत है। समाज शास्त्रीय विचार मंथन को किनारे करके सिर्फ राजनैतिक विचार मंथन पर्याप्त नहीं है।

इच्छुक स्त्री पुरूष मिलन को बलपूर्वक या कानून से रोकना स्वास्थ्य के लिए भी घातक है और अपराध वृद्धि की भी सम्भावना निश्चित है। इसलिए इनके बीच किसी प्रकार की दूरी बनाने की तब तक आवश्यकता नहीं जब तक वह अनिच्छुक व्यक्तियों के लिए प्रत्यक्ष परेशानी का कारण न बने। दूसरी ओर अनिच्छुक स्त्री पुरूष के बीच की दूरी को हम किसी भी हालत में उस सीमा रेखा से कम न होने दें जितनी हमारी कानून व्यवस्था की सुरक्षा की गारण्टी देने की ताकत है। स्त्री और पुरूष एक दूसरे हैं विकल्प नहीं। इन्हें वर्ग के रूप में खड़ा मत कीजिए। इनके अधिकारों की भूख को अनावश्यक मत जगाइयें। महिलाओं को समान अधिकार समान स्वतंत्रता दे दी जाए, किन्तु विशेष अधिकार विशेष स्वतंत्रता देने के पूर्व अपनी शक्ति को तौलना आवश्यक है।

मेरा यह मत है कि स्त्री पुरूष मिलन के मामले में न दूरी बढ़ाने के विशेष प्रयत्न की आवश्यकता है न सामाजिक न्याय की जल्दबाजी में दूरी घटाने तक का खतरा उठाने की। महिला और पुरूष को वर्ग के रूप में सोचना बन्द कर दीजिए और परिवार व्यवस्था को संवैधानिक मान्यता देकर मजबूत होने का अवसर दीजिए तो संभव है कि यह समस्या कुछ सीमा तक सुलझ जावे।

प्रश्न (ख) :— प्रोफेसर बी0बी0 कुमार ने मुझे एक पुस्तक विचारार्थ भेजी है जिसके एक महत्वपूर्ण वैचारिक लेख का शीर्षक है ''नक्सलवाद मिथक और यथार्थ''।

इसके लेखक श्री विजय कुमार जी तथा शंकर शरण जी हैं। लेख में कुछ अंश इस प्रकार है ।

हमारे प्रधानमंत्री कुछ समय से लगातार कह रहे हैं कि हमारी आन्तरिक सुरक्षा को सबसे बड़ा खतरा नक्सली आतंक से है। इसका कारण भी है। देश का लगभग बीस प्रतिशत क्षेत्र और आबादी नक्सली दबाव में आ चुका है। आन्ध्र से लेकर बिहार के सीमान्त तक एक लम्बी भौगोलिक पट्टी नक्सली नियंत्रण की ओर बढ़ रही है। किन्तु इस पर चिन्हित होने के बदले बौद्धिक चर्चाओं में प्रायः सुनने को मिलता है कि नक्सलवाद 'सामाजिक –आर्थिक समस्याओं' का एक परिणाम है।

अर्थात् वह समस्याएँ मूल दोषी है, नक्सलवादी विचार संगठन और हिंसा नहीं। हमारे यहॉ अधिकांश बंधु भी प्रायः कह बैठते हैं कि नक्सलवाद या माओवाद 'अपने अस्तित्व से भटक गया है' अथवा कि वह हत्यावाद में बदल गया है। ऐसे बयानों में भी एक गम्भीर भ्रांति झलकती है, मानों माओवाद, नक्सलवाद पहले मूलतः कोई अच्छी विचारधारा थी जो बाद में पतित हो गई।

किन्तु ऐसी ही भ्रामक बातें तीन दशकों से असंख्य पत्रकारों , टिप्पणीकारों, प्रशासकों और विभिन्न गैर–सरकारी एजेंसियों द्वारा इतनी बार दुहराई गई है कि मानो स्वयं सिद्ध ही बन गई हैं। जब भी नक्सली संगठनों द्वारा हत्याएँ या अन्य विध्वंसक कार्यवाईयां होती है, कहीं न कहीं यह जरूर कहा जाता है कि इसके पीछे 'भूमि सुधार' न होना या भूमि प्रश्न ही मूल समस्या है। चाहे कहने वाला इस तथाकथित भूमि का कोई अर्थ समझता हो या नहीं, किन्तु कई पत्रकार व प्रचारक यह दुहराते अवश्य हैं। वे इतना भी नहीं सोचते कि ऐसे तर्क देने का अर्थ यह बनता है कि जब यह तथाकथित भूमि प्रश्न है, तब तक नक्सली गिरोहों द्वारा हत्या और विध्वंस किंचित स्वाभाविक है। दूसरे शब्दों में, ये हत्याएँ उतनी निंदनीय नहीं जितनी अन्य आपत्तियों द्वारा की गयी हत्याएँ हैं। ऐसे तर्क देते हुए विद्वान पत्रकार नहीं सोचते कि तब कानून, न्याय व्यवस्था और संवैधानिक उपचारों का क्या अर्थ रह जाता है और तब वह किसलिए बनी है?

जान पड़ता है कि हमारे अनेकानेक पत्रकार, प्रोफेसर और राजनीतिकर्मी संविधान, कानून, न्यायालय, आदि को विश्व हिन्दू परिषद या अयोध्या विवाद जैसे मामलों में ही सर्वोपरि रखने की जिद करते है। जबकि माओवादी क्रांतिकारियों, उग्र अल्पसंख्यकों, अलगाववादी नेताओं आदि को हमारे बुद्धिजीवियों की ओर से चाहे अघोषित, किन्तु नैतिक छूट मिली हुई है कि वह कानून, संविधान, राष्ट्रीय अखण्डता आदि को घता बताकर अपना आक्रोश जब चाहे, जैसे प्रकट कर सकते हैं। चाहे हत्याएं करके, चाहे किसी का सिर उतार लेने या देश के और टुकड़े करने जैसी मांगे करके। तब किसी को न्यायालय, कानून के समक्ष समानता, मानव अधिकार आदि याद नहीं आता। हमारे बुद्धिजीवियों में यह कितनी खतरनाक प्रवृत्ति है, इसे गम्भीरता से समझा जाना चाहिए।

भारत में माओवाद पर अधिकांश टिप्पणियां उसी प्रवृत्ति से ग्रस्त रही है। यदि माओवादी संगठनों के अपने दस्तावेजों और उनके क्रिया–कलापों का मिलाकर अध्ययन करें तो यह बिलकुल साफ हो जाता है। उदाहरण के लिए पिछले दो दशकों से विभिन्न लेखकों –पत्रकारों द्धारा हम सुन रहे है कि मध्य बिहार या आन्ध्रप्रदेश में उत्पन्न हुए। अथवा यह किन्हीं उच्च जातियों के विरूद्ध निम्न –सम्मान की लड़ाई है। या भूमि पाने का संघर्ष है। जबकि वास्तव में यह सभी व्याख्याएँ और टिप्पणियां मनगढ़न्त हैं। क्योंकि माओवादी दलों के कार्यक्रम, विश्लेषण इसकी पुष्टि नहीं करते।

आरम्भ से ही माओवादी राजनीति कुछ सुनिश्चित सिद्धान्तों के आधार पर विकसित हुई, जिसे माओ की घोषणाओं, आह्वानों, किताबों से हू–ब–हू लिया गया था। सच यह है कि माओवादियों ने किन्हीं भूमिहीनों, या किन्हीं निम्न – जातियों के सम्मान, भूमि सुधार या न्यूनतम मजदूरी के लिए अपना आन्दोलन और हिंसा आरम्भ नहीं की थी। किसी माओवादी दस्तावेज में इन सबकी कोई भी चिन्ता या विशेष चिंता दिखाई नहीं पड़ती। इसके स्थान पर प्रत्येक माओवादी पार्टी घोषणा –पत्र बिल्कुल साफ–साफ कहता रहा है कि उनका सम्पूर्ण प्रयत्न राज्य सत्ता पर अधिकार करने के लिए है। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को बलपूर्वक खत्म कर सत्ता पर कब्जे के बाद जनता के साथ वही समाजवादी प्रयोग करना है जो माओ ने किया था। इसका सरल अर्थ केवल यह है कि माओवादी सफल हुए तो प्रत्येक क्षेत्र और समुदाय के लोगों को वही नरक भोगना पडा था। भारतीय माओवादी चीन हुए माओवादी प्रयोगों को भारतीय जनता पर दुहराने की इच्छा रखते हैं। इस स्पष्ट घोषणा के बावजूद हमारे बुद्धिजीवि लोगो को बहलाते है। इस स्पष्ट घोषणा के बावजूद हमारे बुद्धिजीवि लोगों को बहलातें हैं कि नहीं, वे तो किसी भूमि प्रश्न को लेकर लड़ रहे हैं। यह छल है।

उदाहरण के लिए, भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी –लेनिनवादी) अथवा सी0पी0आई (ए0एल0)जो यहां पहला माओवादी–नक्सली संगठन था, उसने 1970 में अपने पार्टी कार्यक्रम में कहा था, ''चम्पारण के किसान संघर्ष से शुरू कर गांधीवादी नेतृत्व ने, अपने ''अहिंसा, सत्याग्रह '' निष्क्रिय प्रतिरोध और 'चरखा' की विचारधारा के साथ राष्ट्रीय आन्दोलन को ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन और उसके सामंती पिट्ठुओं की सेवा के लिए तैयार किया''। गांधी जी को गालियां किसलिए दी गयी हैं? केवल इस माओवादी अंधविश्वास के कारण कि गांधी ब्रिटिश साम्राज्यवाद का दलाल था। उक्त दस्तावेज मात्र गांधी या अन्य कांग्रेस नेताओं को ही नही, वरन् दूसरे कम्युनिस्ट नेताओं को भी उसी तरह गालियों से विभूषित करता है –'' सी0पी0आई0 के नेता साम्राज्यवाद और सामंतवाद के एजेंट हैं ..... (वे) चेयरमैन माओत्से तुंग और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चले चीनी जनता के मुक्ति संघर्ष से सीखने और सशस्त्र संघर्ष मार्ग अपनाने से इनकार करते हैं''।

अभी माओवादियों के हाथों नेपाल का विध्वंस भारत के लिए बड़े संकट का सूचक है। जो भारतीय बुद्धिजीवी नेपाल में माओवादियों के वर्चस्व या ''लोकतंत्र की जीत''पर प्रसन्न हो रहे हैं, वे अपने भविष्य पर पड़ रही काली छाया से अनजान हैं। मई 2006 से नेपाल में जो हो रहा है, उसका गंभीरता से मूल्यांकन करें। कुटनीतिक, रणनीतिक रूप में नेपाल के इस्लामी तथा अमेरिकी मिशनरियों के हाथ में जाने के अनगिनत खुले संकेत मिल रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि नेपाल की दुर्गति में भारत के सेक्यूलरवादी नेताओं का भी बड़ा हाथ रहा है। हमारे देश के गणतंत्र दिवस समारोह में प्रत्येक वर्ष किसी न किसी विदेशी राज्य प्रमुख को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया जाता है। क्या कभी नेपाल नरेश को इसके लिए आमंत्रित किया गया? हमने हिन्दू होकर भी जगत के एक मात्र हिन्दू राष्ट्र के प्रति जो व्यवहार किया है, उससे दुनिया के सामने हम स्वयं गिरे हैं। हमारे ऐसे व्यवहार से कोई मुस्लिम या ईसाई देश हमारें सेक्यूलरिज्म ' से प्रभावित नहीं हुआ। उल्टे मन ही मन हंसा है।

मई 2006 में सत्ता हथिया कर नेपाली माओवादियों ने पहला कार्य किया कि नेपाल के ''हिन्दू राज्य'' नाम को बदलकर 'सेक्यूलर राज्य' कर डाला। क्या यह जनता की मांग थी? जी नहीं। तो इससे किनको लाभ होने वाला है? दूसरे जिन लोगों ने नेपाल की पहचान बदल डाली क्या उन्हें जनता की ओर से कोई अधिकार भी मिला था? याद रहे, वहा अंतरिम, काम चलाउ सरकार थी। अर्थात् किसी वेध, जनादेश प्राप्त सत्ता का गठन होना शेष था। किन्तु बिना किसी जनाकांक्षा के इसी कामचलाऊ सरकार के तुरत–फुरत नेपाल की सभ्यतागत पहचान और देश का संविधान बदल डाला। क्यों, किनके कहने से? किनके हित साधन में? इसी कामचलाऊ सरकार ने तुरंत अपना निशाना पशुपतिनाथ मंदिर पर भी साधा और उसे जांच के लिए अपना लेखा दिखाने को कहा। इस सरकार की यह किस प्रकार की वरीयताएं हैं? यदि हम इन मोटो बातों पर भी ध्यान से इनकार करते है तो वास्तव में हमारे देश का भक्तित्व चिन्ताजनक है। नेपाल में किसी तथाकथित लोकतंत्र की जीत नहीं हुई है, बल्कि लोकतंत्र के दुश्मन लेनिनवादी–माओवादी संगठनों का षड़यंत्र सफल हुआ है, जिसमें बाहर की उन शक्तियों का भी सक्रिय सहयोग है जो भारत के विरूद्ध लम्बे समय से सचेष्ट है।

जब नेपाल के राजा ने देश की स्थिति बिगड़ती देखकर उस पर नियंत्रण करने के लिए प्रतिनिधि सभा (संसद)को भंग किया था तो हमारे बुद्धिजीवियों द्वारा इसे लोकतंत्र पर हमला कहकर दुत्कारा गया था, किन्तु नेपाल नरेश को सत्ताच्युत कर माओवादियों ने अंतरिम सरकार से जब पहली बात की तो उसके प्रतिनिधि ने उसी संसद को भंग करने की मांग की। तब हमारे किसी बुद्धिजीवी को यह सीधे माओवादी तानाशाही नहीं प्रतीत हुई। माओवादी नेता प्रचण्ड द्वारा नेपाल नरेश को ''फासी या ''देशनिकाला'' देने की धमकी या हत्या की सम्भावना' बताना क्या लोकतांत्रिक नीति है? इसके प्रति हमारे बौद्धिक क्यों मौन रहे? फिर पिछले डेढ़ वर्ष से नेपाल में माओवादियों के विरूद्ध और नेपाल नरेश के समर्थन में तथा हिन्दू राष्ट्र की

पहचान के पक्ष में जितने भी स्वर उठे, प्रदर्शन हुए, उन सबके बारे में भारतीय मीडिया में कोई समाचार नहीं आए। क्यों?

नेपाल में माओवादियों की बढ़त के पीछे हिंसा और आतंकवाद का दबाव था, इसे भी भारतीय जनमत के समक्ष नहीं रखा गया। पिछले ग्यारह वर्ष में नेपाल में माओवादी विध्वंस में जो 15000 से अधिक जाने गई, वह किनकी थीं और क्यों गई, कभी इसका हिसाब लेने का प्रयास हमारे बुद्धिजीवियों ने नहीं किया। प्रसिद्ध अमेरिकी साप्ताहिक पत्रिका टाइम (18 अप्रैल 2005)को प्रचण्ड ने कहा था कि दस वर्ष पहले उसके पास न कोई आधुनिक हथियार थे, न ही प्रशिक्षित लड़ाके। तो कुछ ही वर्षो में इतने भरपूर संसाधन कहॉ से, किन शर्तो पर आए? इसमें सन्देह नहीं कि हमारे मीडिया के महानुभावों, स्वयंभू नीति–निर्माताओं और तरह–तरह के बुद्धिजीवियों ने अपनी वैचारिकता के नशे तथा नेपाल नरेश के प्रति अपनी निजी नापसंदगी के कारण भारतीय हितों को मुफ्त बलिदान कर दिया। नेपाल अब क्रमशः ऐसी शक्तियों के हाथ जा रहा है जो उसे हमारे लिए दूसरा पाकिस्तान बनाने के इच्छुक है। माओवादी नेता प्रचण्ड ने स्पष्ट घोषणा की है कि माओवादियों का अन्तिम लक्ष्य 'भारत के विरूद्ध राष्ट्रीय युद्ध चलाना है। उसी नेता का हमारा मीडिया विगलिस होकर स्वागत करता है, उसके बयान उत्साह से सकारात्मक टिप्पणियों के साथ प्रसारित करता है। कितना ठीक कहा था बी0एस0 नायपॉल ने कि भारत का अंग्रेजी मीडिया अपने ही देश के बारे में समाचार इस तरह प्रस्तुत करता है मानो किसी दूसरे देश के बारे में बता रहा हो।

यदि इन सभी बातों पर हम लोग अपनी स्वतंत्र बुद्धि से विचार कर समुचित निष्कर्ष नहीं निकालते तो माओ की धारणा को ही पुष्ट करेंगे जिनका मानना था कि भारतीयों में कोई चरित्र नहीं हैं, जो खोखले शब्दों के भण्डार है तथा भारत एक मंदबुद्धि गाय है जो किसी बैसाखी पर टिकी हैं। यदि हम नक्सलवाद को सामाजिक –आर्थिक समस्याओं को प्रतिक्रिया समझते रहे, तो भारतवासियों के बारे में माओं की टिप्पण को निस्संदेह सही प्रमाणित करेंगे। बिहार में किसानों ने नक्सलवाद से निपटने के लिए रणबीर सेना बनाई । नक्सलवाद पहले आया और सरकार की असफलता के बाद किसान लामबन्द हुए। सरकार मध्यस्थ बन गई। बुद्धिजीवी विचारक और साहित्यकार ऐसी प्रतिक्रिया में ही नक्सलवाद आया हो, जबकि यथार्थ इसके बिल्कुल उलट है।

समीक्षा —आपने माओवाद का यथार्थ और नक्सलवाद के उद्देश्य का स्पष्ट चित्र खींचा है। आपसे पूरी तरह सहमन हूॅ। दस वर्ष पहले मैं नक्सलवाद को व्यवस्था परिवर्तन का हिंसक मार्ग समझता था, किन्तु बाद में समझ में आया कि नक्सलवाद सीधे–सीधे सत्ता संघर्ष है। आपने भारत के प्रतिबद्ध वामपंथी बुद्धिजीवियों के जहरिले प्रचार की पोल खोलकर भी अच्छा किया है। आपने विचार, साहित्य, कला,

व मानवाधिकार आदि के भिन्न भिन्न रूपों में नक्सलवाद का प्रचार करने की भी बात कही जिसमें मैं सहमत हूॅ।

मैंने शंकर शरण जी का भाषण भी सुना है। इस विषय पर उनके विचार स्पष्ट रहते ही है, किन्तु कुल मिलाकर उनके विचारो में संघ परिवार के प्रति झुकाव दिखा। यदि अन्य विषयों पर उनकी सोच अधिक अप्रतिबद्ध होती तो और अच्छा होता। यदि हम राजनैतिक उद्देश्यो को आधार मानें तो संघ परिवार भी तो सत्ता परिवर्तन की ही लड़ाई लड़ रहा है। नक्सलवादी विदेशी माओं से संचालित है और आर्थिक विषमता को आधार बनाकर संघर्ष कर रहे है यह अंतर कोई बहुत बडा अंतर नही है यद्यपि है जरूर। मैं यह मानने के लिये तैयार नही कि संघ परिवार का उद्देश्य सांस्कृतिक जागरण है।

मैने अपनी प्राथमिकताओं के चार भाग किये है **(1)** समीक्षा **(2)** आलोचना **(3)**विरोध **(4)** संघर्ष। मैंने समीक्षा की श्रेणी में संर्वोदय, आर्य समाज, गायत्री परिवार, हिन्दु धर्म आदि को रखा है आलोचना की श्रेणी में इस्लाम, संघ परिवार सभी राजनैतिक दल, साम्यवाद आदि हैं। मैं स्पष्ट कर दूॅ कि मै संघ की तुलना में सर्वोदय की विचार धारा को अधिक अच्छा मानता हूॅ क्योंकि राजनैतिक सोच के मामले में सर्वोदय संघ की अपेक्षा अधिक ठीक है। विरोध की दृष्टि से मैं नक्सलवाद मुस्लिम, आतंकवाद, आदि को मानता हूॅ किन्तु संघर्ष के लिए मेरी एक ही लाइन है और वह है लोक स्वराज्य के विपरीत सोच रखने वाला या क्रिया करने वाला व्यक्ति। ऐसा व्यक्ति चाहे किसी राजनैतिक दल का हो या किसी धर्म विशेष से जुडा हो या शान्ति का संदेश वाहक हो या आतंकवादी। जो दूसरो को गुलाम बनाकर रखने की इच्छा रखता है वह मेरा विराधी तो है ही साथ ही मैं उसके विरूद्ध अहिंसक संघर्ष की इच्छा भी रखता हूॅ। मेरे विचार में इस समय सबसे खतरनाक वह इच्छा है जो दूसरो को अपनी इच्छानुसार संचालित करने की हुई है या असंवैधानिक तिकडम में यह मेरी चिन्ता का विषय नहीं। मैं ऐसी तिकड़म करने वालों को आतंकवादियों से भी अधिक घातक मानता हूॅ और इसलिये इनके विरूद्ध संघर्ष का ताना– बाना बुनता रहता हूॅ।

आपने नेपाल में नक्सलवाद के उदय को गंभीर खतरा माना यहां तक मै सहमत हूॅ किन्तु नक्सलवाद की अपेक्षा राजशाही का समर्थन कैसे उचित माना जाए? राजशाही तो नक्सलवाद से अधिक तानाशाही का रूप है। नेपाल में लोकतंत्र और राजशाही के बीच अहिंसक संघर्ष हुंआ। लोकतंत्र जीत नहीं सका और बीच में नक्सलवाद आ गया। हमने समय रहते क्यों नहीं लोकतंत्र की सहायता की? हम और विशेषकर संघ मनोवृत्ति के लोग राजशाही से चिपके रहे। अब भी वे लोग राजशाही का ही समर्थन कर रहे हैं। क्या यही हिन्दुत्व है? धर्मनिपेक्षता और गणराज्य प्रणाली तो हिन्दुत्व का प्राण है। किस हिन्दुत्व में समाज को अधिकार विहीन और राज्य को सर्वाधिकार सम्पन्न की कल्पना है? यदि हिन्दू राष्ट्र की कल्पना में समाज को मालिक और राज्य का स्वागत है और यदि हिन्दू राष्ट्र के नाम पर हिन्दू राज्य और हिन्दू राजा का संकीर्ण

सोच छिपा है तो कृपया भारत को ऐसी सोच से दूर रहने दीजिए। नेपाल में हमसे चुक हुई कि हमने लोकतंत्र का समर्थन नहीं किया। अब भारत में भी वही भूल हो रही है कि हम लोकतंत्र के स्थान पर लोक स्वराज्य का समर्थन करने में देर कर रहे है। यदि भारत में भी नक्सलवाद मजबूत हुआ तो दोष किसका? अपनी राजनैतिक भूख मिटाने के लिए हिन्दुत्व की परिभाषाओं से छेड़छाड़ एक ऐसी भूल होगी जिसके भविष्य में बहुत दुष्परिणाम होने निश्चित हैं।

अब भी समय है कि आप सब साथी फिर से विचार करें। भारत में भी नेपाल सरीखी भूल दुहराई जा रही है। लोकतंत्र से भारत का हर नागरिक निराश है। संघ परिवार को चाहिए कि वह लोक स्वराज्य की आवाज बुलन्द करे, किन्तु अब भी वह पिछड़ रहा। राईट टू रिकाल एक छोटा सा प्रयत्न है। साम्यवादियों ने तो जल्दी–जल्दी में उसका समर्थन कर दिया, किन्तु संघ परिवार अब भी असमंजस में पड़ा है। परिवार, गॉव व जिले के अधिकारों को संवैधानिक स्वरूप देने की एक सूत्रीय मांग पर संघ परिवार को तत्काल पहल करनी चाहिए। यह ऐसी मांग है जो लोकतंत्र का विकल्प बन सकती है। संघ परिवार का पहल करने की आदत डालनी चाहिए।